लेखक की स्वतन्त्रता : आज के सन्दर्भ में

मैं साहित्य अकादेमी का आभारी हूँ, जिसकी ओर से आज मुझे *लेखक की स्वतन्त्रता* जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर बोलने के लिए आमन्त्रित किया गया है । मुझे ख़ुशी होती, यदि अकादेमी इस विषय पर संवाद-गोष्ठी बीस वर्ष पूर्व आयोजित करती, जब हम आपातकाल की कठिन घड़ी से गुज़र रहे थे । मुझे याद आता है, उन दिनों *राइटर्स गिल्ड* ने एक सेमिनार आयोजित किया था, जिसमें आमन्त्रित लेखकों ने साहित्य की हर समस्या पर विचार किया था ---सिवा लिखने की स्वतन्त्रता को छोड़कर । उन दिनों जो कुछ हुआ, वह हमारे लिए कोई गर्व की बात नहीं है । अन्य पत्रिकाओं की बात तो अलग रही, *दिनमान* जैसी पत्रिका, जिसकी गौरवशाली परम्परा पर हम सब अभिमान कर सकते हैं, के पन्नों को पलटते हुए आश्चर्य होता है कि उसके सम्पादकीय लेखों पर कहीं उन दुर्दिनों की छाया तक दिखाई नहीं देती, आक्रोश या विरोध की बात तो बहुत दूर रही । स्वतन्त्रता का मूल्य संकटकाल में ही पहचाना जाता है, उसे हम आँख मूँदकर तुष्ट भाव से स्वीकार नहीं कर सकते । वह उस पौधे की तरह है, जिसे बराबर अपनी सतर्कता और चौकसी से सींचना पड़ता है, ज़रा-सा आँख हटते ही वह मुरझाने लगता है ।

इस सन्दर्भ में एक दूसरी बात को रेखांकित करना भी आवश्यक है, जो वैसे तो सीधी और स्पष्ट है, किन्तु जिसे प्रायः भुला दिया जाता है --- वह यह कि लेखक की स्वतन्त्रता कभी अकेले एकान्त में सँजोकर नहीं रखी जा सकती, वह उसकी अन्य नागरिक स्वतन्त्रताओं के साथ अन्तरंग रूप से जुड़ी होती है । वैयक्तिक स्वतन्त्रता को वैचारिक स्वतन्त्रता से अलग रखना असम्भव है । मैं यह बात इसलिए भी दुहराना ज़रूरी समझता हूँ, क्योंकि हाल में आपातकाल पर एक परिचर्चा में भाग लेते हुए श्री खुशवंतसिंह ने कहा था कि वह इमरजेंसी के समर्थक थे, लेकिन सेंसरशिप के विरोध में थे । जब यही बात उन्होंने

आपातकाल की समाप्ति पर इन्दिरा गाँधी से कही तो उन्होंने कुछ आश्चर्य में कहा, *क्या एक को दूसरे से अलग किया जा सकता है ?* मैं समझता हूँ, यह वह दुर्लभ क्षण था, जब इन्दिराजी ने एक सही बात कही थी ।

वैचारिक स्वतन्त्रता नागरिक अधिकारों की रक्षा में सबसे सशक्त ढाल का काम करती है, इसलिए एक स्वेच्छाचारी, अतिचारी शासन-व्यवस्था में उस पर पहली और सीधी चोट लगती है । आज यदि आप गुज़री हुई बीसवीं शती का लेखा-जोखा करें, तो पाएँगे कि इस शताब्दी में जो मानव-मूल्य सबसे अधिक घायल, क्षत-विक्षत हुआ, वह वैचारिक स्वतन्त्रता का मूल्य था । आश्चर्य तो यह है कि यह कोई एशिया के *पिछड़े* देशों में नहीं, यूरोप के सबसे विकासशील, बौद्धिक वैभव और भौतिक सम्पदा से सम्पदा से सम्पन्न समाजों में घटित हुआ । मार्क्स से लेकर सार्त्र तक अनेकानेक स्वनामधन्य बुद्धिजीवियों ने न जाने कितने दार्शनिक सिद्धान्त, ऐतिहासिक फार्मूले, समाजशास्त्रीय स्थापनाएँ आविष्कृत की थीं, सिर्फ़ यह प्रमाणित करने को कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता एक गए-गुज़रे ज़माने का बुर्जुआ अवशेष है, जिसे सिर्फ़ *इतिहास के कूड़ेदान* में फेंका जा सकता है । जब कभी बीसवीं शती का बौद्धिक इतिहास लिखा जाएगा, तो यह शायद उसकी सबसे अधिक विस्मयकारी विडम्बना साबित होगी कि जहाँ तक व्यक्ति की वैचारिक स्वतन्त्रता का प्रश्न था, उसकी मृत्यु-होषणा तानाशाही अधिनायकों और रेडिकल, वामपन्थी बुद्धिजीवियों ने सामवेत स्वर में की थी। , जिसमें एक को दूसरे से अलग करके पहचानना असम्भव था । वह फ़ासिज़्म हो या सोवियत साम्यवाद, उसको हमेशा कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी बुद्धिजीवी की ओर से समर्थन प्राप्त होता रहता था । यदि आज मानव-स्वतन्त्रता का मूल्य विनाश के खँडहरों के बीच एक *फ़ीनिक्स* की तरह पुनरुज्जीवित हो उठा है तो इसका कारण यह है कि स्वतन्त्रता केवल एक नागरिक अधिकार ही नहीं है, जो इतिहास द्वारा व्यक्ति को मिली है; बल्कि वह इस धरती पर उसके मनुष्य होने की, उसके *मनुष्यत्व* की बुनियादी और प्राथमिक मर्यादा भी है । हमारी शताब्दी के अँधेरे में मनुष्य की यह मर्यादा धूमिल

अवश्य पड़ी है, उसकी आत्मा से तिरोहित कभी नहीं हुई । आज उसके अन्तिम वर्षों में यही एकमात्र एसा मूल्य है, जिसमें नस्ल, जाति और देश की सीमाओं से उठकर एक सार्वभौमिक, नैतिक मान्यता के रूप में स्वीकृति पाई है । आज इतिहास के कूड़ेदान में वैचारिक स्वतन्त्रता का मूल्य नहीं, वे विचारधाराएँ दिखाई देती हैं; जिनकी वेदी पर उसे बलिदान करने का महायज्ञ रचा गया था ।